HindiTech
A Blind Double Peer Reviewed Bilingual Web-Research Journal

भाषा से धनी और भाषा से संतप्त: 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'

मृत्युंजय प्रभाकर

mrityunjay.prabhakar@gmail.com

एसोसिएट प्रोफेसर, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली

सारांश

प्रस्तुत आलेख में सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गयी है. आधुनिक हिंदी नाट्य परंपरा में लेखक और उनके नाटकों के योगदान की समीक्षा की गयी है. आलेख के जरिए यह भी समझने का प्रयास किया गया है कि आखिर क्यों आज के दौर में उनके नाटकों के प्रदर्शन न के बराबर हो रहे हैं. लेखक की दृष्टि में नाटककार द्वारा उनके लिखे नाटक खेलने की स्वीकृति की भारी भरकम फीस, उनके नाटकों की समृद्ध भाषा और आज के नाटक खेलने वाले समूह में पढ़े-लिखे और भाषा को ठीक से बरतने वाले अभिनेताओं की कमी आदि को इसकी प्रमुख वजह बताई गई है.

भूमिका

सुरेन्द्र वर्मा हिंदी नाटकों की समृद्ध परम्परा में शामिल वह नाम है जिनके नाम लगभग दर्जन भर नाटक दर्ज हैं. उनके महत्वपूर्ण नाटकों में 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग', 'शकुंतला की अंगूठी', 'क़ैद–ए–हयात', 'रति का कंगन', 'मरणोपरांत', 'नींद क्यों रात भर नहीं आती', 'मुग़ल महाभारत: नाट्य चतुष्टय' आदि महत्वपूर्ण नाटक शामिल हैं. वह हिंदी के ऐसे अकेले और अनोखे नाटककार हैं जो पचास से भी अधिक वर्षों से निरंतर नाटक लिखते आ रहे हैं. आरंभिक तौर पर उनके नाटक बहुत जगहों पर खेले भी गए. गणमान्य निर्देशकों और संस्थाओं के जरिए उनके नाटकों के मंचन

हुए. लेकिन एक समय के बाद उनके नाटक अब न के बराबर खेले जाते हैं. आखिर, उसकी क्या वजह हो सकती है. यह आलेख उनके नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' के जरिए इसी पड़ताल की कोशिश है.

बीज शब्द: हिंदी नाटक, सुरेन्द्र वर्मा, आधुनिक हिंदी नाटक, नाट्य पाठ और प्रदर्शन, स्त्री-पुरुष संबंध और नाटक, आधुनिक हिंदी नाट्य परंपरा

आलेख

हिंदी नाटक की धारा महज लगभग डेढ़ सौ साल से थोड़ी ही अधिक पुरानी है लेकिन इतने कम वर्षों में भी इसकी थाली में दर्जन भर ऐसे नाटककार हैं जिनके लिखे अनेकानेक नाटक कालजयी नाटकों में शुमार माने जाते हैं. इनमें से कुछ नाटककार आज़ादी पूर्व के हैं तो कुछ आज़ादी उपरान्त के भी हैं, जिन्होंने अपने रचनाकर्म से न सिर्फ हिंदी नाट्यधारा और हिंदी साहित्य को बल्कि हिंदी भाषा को भी समृद्ध करने का काम किया है. दुनिया भर में भाषा और साहित्य का इतिहास देखें तो लगभग सारी बड़ी भाषाओं के साथ ऐसा ही होता आया है. ग्रीक, रोमन, फ्रेंच, जर्मन, इंग्लिश आदि सारी भाषाएँ जब बन रही थीं तब उसे ठोस स्वरुप देने में तत्कालीन कवियों और नाटककारों ने बड़ी भूमिका निभाई थी. हिंदी भाषा के बनने की प्रक्रिया के आरम्भ से भी उसके निर्माण में कवियों और नाटककारों ने ऐसी ही भूमिका का निर्वहण किया है. भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके मित्र-मंडल ने जिस तरह हिंदी भाषा के निर्माण के आरंभिक वर्षों में ही एक अभियान के तहत नाटकों की भरपूर रचना की वह किसी से छुपी हुई बात नहीं है. भारतेंदु काल के बाद के रचनाकरों ने भी हिंदी भाषा के निर्माण में कोई कसर नहीं छोड़ी. इस परंपरा में शामिल मुख्य नाटककारों के नाम अगर लिए जाएँ तो – भारतेंदु हरिश्चंद्र, राधेश्याम कथावाचक, जयशंकर प्रसाद, भुवनेश्वर, जगदीशचंद्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अश्क, रामवृक्ष बेनीपुरी, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, लक्ष्मी नारायण लाल, रमेश बक्शी, हबीब तनवीर, नाग बोडस, स्वदेश दीपक, असग़र वजाहत, राजेश जोशी, कुसुम कुमार, मन्नू भंडारी, मृणाल पांडे, मीरा कान्त आदि महत्वपूर्ण नाम सामने आएंगे.

इसी सूची में एक नाम, जिसके बिना यह सूची पढने में अधूरी लग रही होगी, शामिल है सुरेन्द्र वर्मा की, जिन्होंने अपने नाटकों के जरिए हिंदी में वह मुकाम हासिल किया है जो बहुत कम लोगों को हासिल है. उनके नाटक लेखन के आरम्भ से ही चर्चित और मंचित होते रहे हैं और देश के गणमान्य निर्देशकों और संगठनों ने उनके नाटक की प्रस्तुतियों की हैं. यूँ तो सुरेन्द्र वर्मा एक कहानीकार और उपन्यासकार के तौर पर भी ख्यात हैं और उनका लिखा उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' बहुत प्रसिद्ध भी है. इस उपन्यास के लिए उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार भी प्राप्त है. हिंदी के आम पाठकों में उनकी लोकप्रियता उनके इस

उपन्यास की वजह से भी है लेकिन लेखन के आरम्भ से ही उनकी ताकत नाटक रहे हैं और वह एक मुकम्मल नाटककार के तौर पर जाने जाते हैं.

सुरेन्द्र वर्मा की सबसे बड़ी जो खासियत है वह यह कि ऐसे दौर में जब हिंदी साहित्य से नाटक और नाटककारों को एक तरह से बेदखल कर दिया गया है, उस दौर में भी उन्होंने पचास से अधिक वर्षों से निरंतर नाटकों की रचना की है. वह शायद वर्तमान में हिंदी के एकमात्र रचनाकार होंगे जो पिछले 50 वर्षों से निरंतर नाट्य लेखन करते आ रहे हैं. 1970-71 के आस-पास लिखे अपने पहले नाटक 'द्रौपदी' से लेकर अब तक वह दर्जन भर से अधिक नाटकों की रचना कर चुके हैं जिनमें, 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग', 'शकुंतला की अंगूठी', 'क़ैद–ए–हयात', 'रति का कंगन', 'मरणोपरांत', 'नींद क्यों रात भर नहीं आती', 'मुग़ल महाभारत: नाट्य चतुष्टय' आदि महत्वपूर्ण नाटक हैं.

नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' साल 1972 में लिखा गया और उसी वर्ष अमोल पालेकर के निर्देशन में इस नाटक का मराठी भाषा में मंचन भी हुआ. यह भी अपने आप में एक गौरतलब बात है कि हिंदी में लिखे इस नाटक का पहला मंचन दूसरी भाषा में अनुवाद के द्वारा संभव हुआ और हिंदी में इसका मंचन लिखे जाने के दो साल बाद 1974 में ही संभव हो पाया जब राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की रिपर्टरी द्वारा इसका मंचन किया गया. लेकिन हिंदी नाट्य धारा में बाद के दौर में उनके इस नाटक का मंचन बहुत सारी संस्थाओं और अभिनेताओं द्वारा किया गया जो इस बात का सबूत है कि यह नाटक अपने दौर में काफी सफल माना गया. उनके लिखे दूसरे नाटक भी एक समय में निरंतर प्रदर्शन में रहे और उनकी मांग काफी हद तक बनी रही.

लेकिन बाद के दौर में देखने में आया कि उनके नाटकों के मंचन कम होते गए और पिछले 25 वर्षों में तो यदा-कदा ही उनके नाटक प्रदर्शन में देखने में आते रहे हैं. इस बात की पड़ताल होनी चाहिए कि आखिर ऐसा क्यों हुआ कि एक दौर में काफी सफल नाटककार रहे सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के मंचन निरंतर कम होते गए और अब तो न के बराबर ही उनके प्रदर्शन देखने को मिलते हैं. इसके पीछे एक जो बात कही और सुनी जाती है वह है अपने नाटकों के प्रदर्शन पर उनके द्वारा मांगी जानी वाली भारी भरकम शुल्क. इस बात की तस्दीक उनके प्रकाशित नाटकों में 'रंगमंडलियों के लिए सख्त चेतावनी' शीर्षक से छपे हुए इन वाक्यों से भली-भांति की जा सकती है:

इस नाटक पर नाटककार के अधिकार कॉपीराइट अधिनियम के अंतर्गत सुरक्षित हैं. इस नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुतु करने से कम-से-कम एक माह पहले नाटककार को 10000 का भुगतान कर लिखित अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य है. चालाकी मंहगी पड़ेगी.बहाने बनाना बेकार है. भुगतान करना ही होगा.

इन पंक्तियों को पढ़कर कोई भी समझेगा कि यह कोई सिरफिरा नाटककार ही होगा जो नाटक के प्रदर्शन पर ऐसी कोई शर्त रख सकता है. एक ऐसे दौर में जब नाटक और उसके लेखक को कोई पूछ नहीं रहा और नाट्य निर्देशक किसी जीवित नाटककार द्वारा लिखित किसी नाटक के मंचन को लेखक पर अहसान जताने की तरह बर्ताब करते हैं. सुरेन्द्र वर्मा एक मात्र नाटककार हैं जो अपने नाटकों के मंचन पर ऐसी कड़ी शर्त रखते हैं. दिल्ली में रहते हुए कई बार यह सुनने को मिला कि उन्हें पैसों की कोई कमी नहीं. वह हिंदी के गिने-चुने जीवित रचनाकारों में हैं जो दिल्ली जैसी जगह में फार्म हाउस में रहने जैसा लक्ज़री जीवन जीते हैं. ऐसे में उन्हें रंगकर्मियों के लिए थोड़ी छूट देनी चाहिए थी. खासकर, उन शौकिया रंगकर्मियों के लिए जिनके पास रंगमंच करने के लिए उतने पैसे नहीं होते. लेकिन वह ऐसा नहीं करते और तो और अगर कोई चोरी-चुपके उनका नाटक करना चाहे तो मुकदमा तक दर्ज करवा देते हैं.

बहरहाल, इस मसले पर उनकी अपनी जो भी व्यक्तिगत सोच होगी वह अपनी जगह लेकिन मुझे लगता है कि रंगमंच के इस स्याह दौर में जब नाटक और नाटककार को रंगकर्मी ही कोई तबज्जो नहीं देते और न ही हिंदी साहित्य उन्हें बहुत नोटिस करता है, एक नाटककार का अपनी रचना का इस तरह बचाव करना और उसका एक मूल्य तय करना उसका इस पूरी व्यवस्था के खिलाफ प्रतिकार दर्ज कराने जैसा है, जिसमें नाटककार को दोयम दर्जे का या कहें गैर-जरूरी करार दे दिया गया है. आखिर, जब कोई आपके पक्ष में खड़ा न हो तब आपको खुद ही अपने और अपनी रचनाओं के लिए खड़ा होना ही पड़ता है. मुझे विस्तार से इस मामले में उनकी राय का पता नहीं लेकिन मुझे लगता है कि उनके द्वारा उठाया गया यह कदम बिल्कुल जायज है. एक तरफ जब देश में हर तरफ रंग महोत्सवों की भीड़ और बड़े-बड़े प्रदर्शनों की होड़ है जिसमें लाखों के बारे-न्यारे होते हैं तो ऐसे में नाटककार ही उपेक्षित क्यों बना रहे और क्यों इस जलसे में शामिल होने की भीख मांगता प्रतीत हो? इससे बेहतर है कि इन सब तमाशों से बाहर अपने सम्मान के साथ बना रहे. सुरेन्द्र वर्मा मुझे ऐसे ही साहसी और स्वाभिमानी नाटककार नज़र आते हैं जो रंगकर्म के इस मकड़जाल से बाहर अपनी गरिमा और ताकत के साथ उपस्थित हैं.

बहरहाल, उनके नाटकों के निरंतर कम होते मंचन के पीछे मुझे इसके अलावा कुछ वजहें और भी नज़र आती हैं और उनमें से सबसे प्रमुख एक कारण उनके नाटकों की समृद्ध भाषा है. हम सब यह बात बखूबी जानते हैं कि उनके नाटकों की भाषा प्रांजल और परिस्कृत है. प्रांजल और परिस्कृत भाषा न सिर्फ उनके

नाटकों को चार-चाँद लगाते हैं बल्कि उनके नाटकों की सबसे बड़ी ताकत भी हैं. उनके नाटकों में भाषा अपने आप में एक तत्व, एक इकाई, एक किरदार की तरह उपस्थित है जो काफी सोच-समझ और गहन चिंतन के बाद रची गई है. यह कोई चलताऊ भाषा नहीं है. इसके बनिस्पत उनकी भाषा इतनी सुवाचारित और संवेदनशील है कि वह उस भाषा की ताकत को अपनी तरह से परिभाषित करने या कहें उसे नई ऊंचाई और गौरव प्रदान करने का काम करती है. उनके नाटकों की भाषा शब्दों और ध्वनियों की ताकत को नए तरह से उभारने का काम करते हैं. मजे की बात यह है कि उनका हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओँ पर जबरदस्त अधिकार है, जो जाहिर सी बात है इस बात की मांग करते हैं कि लेखक उसी तरह संस्कृत, अरबी और फ़ारसी भाषाओँ का भी उतना ही बड़ा अधिकारी होगा क्यूंकि इन पर बेहतरीन पकड़ बनाए बिना हिंदी और उर्दू भाषा पर वह अधिकार आ ही नहीं सकता.

उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत आलेख में विवेच्य नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' को ही लें तो इस नाटक की भाषा अलंकारिक है. 'सूर्य की अंतिम किरण से..' नाटक के शीर्षक को ही देखें तो इसमें लेखक ने अनुप्रास अलंकार का इस्तेमाल किया है. नाटक के संवादों को देखें तो इनमें अनुप्रास, श्लेष व अन्य अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य विचार आदि देखने में आ जाते हैं. यही नहीं बल्कि भाषा के अन्यान्य उपकरण जैसे संज्ञा,सर्वनाम और विशेषण आदि का भी बहुत ही सावधानी पूर्वक इस्तेमाल किया गया है.

नाटक की भाषा संस्कृतनिष्ट है और ऐसी हिंदी में लिखी गई है जो एकदम से आमफहम नहीं है. लेकिन नाटक की कथावस्तु के काल, वातावरण और किरदारों को देखते हुए लेखक ने एक ऐसी भाषा रचने का काम किया है जो उसे एक किस्म का अभिजात्य प्रदान करता है, क्यूंकि नाटक राजा, रानी, दरबारी अधिकारियों और राजमहल के सेवकों को केंद्र में रखकर लिखा गया है और उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमता भी है. अगर इस परिस्कृत भाषा, वाक्य-विन्यास और शब्द-विलास के अतिरिक्त हिंदी के आमफहम शब्दों या रोजमर्रा के शब्दों में इस नाटक को रचा गया होता तो शायद यह नाटक अपने परिवेश और अपनी अर्थवत्ता को ठीक से संप्रेषित नहीं कर पाता.

नाटक की भाषा को लेकर ग्रीक दार्शनिक अरस्तु ने अपनी रचना 'पोएटिक्स' में बहुत कमाल की बात कही है. उनके अनुसार, 'नाटक में भाषा और संरचना का मूल्य उद्देश्य अर्थ तक पहुँचाने तक मदद करने की होना चाहिए. लेखक को ऐसी सीधी और सपाट भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो कहानी के टोन और परिवेश के अनुरूप हो.' इस लिहाज से भी देखें तो सुरेन्द्र वर्मा द्वारा लिखित नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण

से सूर्य की पहली किरण तक' की भाषा सीधी और सपाट भले न हो लेकिन उसके टोन और परिवेश पर सटीक बैठती है और नाटक के मूल उद्देश्य तक पहुँचने में मददगार साबित होती है.

हालाँकि, यह बात भी अपने आप में अजीब लग सकती है कि अगर काल और समय सापेक्ष ही भाषा रखनी हो तो हिंदी भला कैसे उसमें समायोजित होती है क्यूंकि हिंदी तो उस दौर की भाषा थी ही नहीं, वह तो मात्र डेढ़ सौ साल पहले बनी एक भाषा है. ऐसे में सवाल तो बनता है कि जब हिंदी उस दौर की भाषा थी ही नहीं तो फिर हिंदी में ही नाटक के संवाद क्यों रचे-बसे हैं? नाटक की कथावस्तु और काल के हिसाब से तो नाटक की भाषा कुछ और होनी चाहिए थी. लेकिन रचनाकार को यह भी देखना पड़ता है कि वह किस दर्शक वर्ग या पाठक के लिए अपना नाटक रच रहा है. ऐसे में यह उसकी रचनात्मक स्वतंत्रता के दायरे में आता है कि वह अपने नाटक की भाषा क्या रखे जो नाटक के काल और वर्तमान काल दोनों में ही ग्राह हो. नाटककार द्वारा प्रयोग की गई संस्कृतनिष्ट हिंदी इस नाटक के काल और वर्तमान दर्शकों-पाठकों के बीच एक पुल का काम करता है और इस तरह से दर्शकों-पाठकों का जुड़ाव नाटक के परिवेश से बन पाता है. इस तरह देखें तो नाटक को संस्कृतनिष्ट हिंदी में लिखने पर उठने वाला सवाल अपने आप ही दरकिनार हो जाता है.

अब आते हैं उस प्रश्न पर जहाँ से बात शुरू हुई थी. मैंने ऊपर लिखा था कि उनके नाटकों के हालिया वर्षों में कम प्रदर्शन की एक वजह उनके नाटकों की समृद्ध भाषा भी हो सकती है. कारण कि उनके नाटकों की समृद्ध भाषा प्रदर्शनकर्ताओं से भी उतने ही परिश्रम की मांग करती हैं जिस परिश्रम से यह नाटक में इस्तेमाल की गई हैं. प्रस्तुत नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' की भी बात करें तो इस नाटक के प्रदर्शन से पूर्व इसकी भाषा के बारे में काफी सोच-विचारकर ही कोई प्रस्तुति संभव है. लेकिन आजकल के कलाकारों को देखें तो यह उनके वश की बात लगती ही नहीं क्यूंकि हिंदीभाषी रंगकर्म अब भाषाई दरिद्रता का शिकार जान पड़ता है. रंगकर्मियों की ऐसी फौज अब सामने है जो आमफहम हिंदी के शब्द ठीक से उच्चारित नहीं कर पाते. ऐसे में वह ऐसी प्रांजल और सुसंस्कृत भाषा भला किस मुंह से बोल पाएंगे. शायद इस वजह से भी ज्यादातर रंगकर्मी अब सुरेन्द्र वर्मा लिखित नाटकों को हाथ लगाने से बचते हैं.

जब बात 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' और सुरेन्द्र वर्मा लिखित अन्य नाटकों की भाषा की हो रही हो तो उस पर ठहरकर कुछ बात कर लेना स्वाभाविक है. जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है- उनके नाटकों की भाषा काबिले तारीफ़ है और एक लेखक के तौर पर सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटकों की भाषा को लेकर काफी सजग हैं. ऐसा नहीं कि हिंदी के वे अकेले लेखक हैं जो ऐसा करते हैं बल्कि इसके उलट

हिंदी नाट्य धारा अपने प्रारंभ से ही भाषा को लेकर अत्यधिक सजग रही है और भाषाई प्रतिमान पर जबरदस्त नाटकों की रचना करती रही है. यह भाषा उन्हें थाती के तौर पर भारतेंदु हरिश्चंद्र, राधेश्याम कथावाचक, जयशंकर प्रसाद, भुवनेश्वर, जगदीशचंद्र माथुर, धर्मवीर भारती और मोहन राकेश से प्राप्त हुई है. ये वो रचनाकार हैं जिन्होंने हिंदी भाषा को अपने नाटकों के जरिए उसका सौष्ठव प्रदान करने का काम किया है. उनके बाद के दौर के नाटककारों पर उनके रचनाकर्म और भाषा का विशेष प्रभाव है. सुरेन्द्र वर्मा भी इस प्रभाव से अछूते नहीं हैं.

हिंदी नाट्य परंपरा में मोहन राकेश निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ नाटककार के तौर पर विराजमान हैं. अपने महज तीन सम्पूर्ण नाटकों और चंद एकांकियों के बल पर मोहन राकेश कालजयी नाटककारों में शुमार किए जाते हैं. अगर हमें उनकी परंपरा का कोई दूसरा नाटककार चुनना हो तो निश्चित ही सुरेन्द्र वर्मा का नाम उसमें अग्रणी पंक्ति में गिना जाएगा. इसका स्पष्ट कारण है कि सुरेन्द्र वर्मा के आरंभिक नाट्य लेखन पर मोहन राकेश के नाटकों की अमित छाप है. उनके पहले नाटक 'द्रौपदी' की चर्चा करें तो हमें इस नाटक पर न सिर्फ कथावस्तु बल्कि भाषा, नाट्य शैली और नाटकीय प्रभाव में भी मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' की स्पष्ट छाप नज़र आती है. जहाँ तक रही बात 'सूर्य के अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक की तो इस नाटक की भाषा, कथावस्तु और नाट्य शैली पर मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की छाप नज़र आती है. अपने लेखन के आरंभिक वर्षों में इस तरह की छाप कमोवेश हर लेखक पर नज़र आती है. लेखक जिस रचनाकार से प्रभावित होता है उसे इस हद तक आत्मसात कर लेता है कि उनके बीच का द्वैत समाप्त हो जाता है. इसलिए उसके लेखन पर किसी खास रचनाकार का छाप मिलना कोई असामान्य बात नहीं है. हालाँकि, यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी जरूरी है कि अपने बाद के दौर के नाटकों में सुरेन्द्र वर्मा अपनी खुद की नाट्य शैली विकसित करते हैं और 'मरणोपरांत', 'शकुंतला की अंगूठी', 'रति का कंगन', 'क़ैद-ए-हयात' आदि अन्यान्य कई समर्थ नाटकों की रचना करते हैं.

'सूर्य के अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' की कथावस्तु स्त्री-पुरुष संबंधों पर केन्द्रित है. स्त्री-पुरुष संबंधो को लेकर हिंदी में कई महत्वपूर्ण नाटक लिखे जा चुके हैं. जयशंकर प्रसाद रचित 'ध्रुवस्वामिनी', उपेन्द्रनाथ अश्क लिखित एकांकी 'लक्ष्मी का स्वागत', मोहन राकेश रचित तीनों ही नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे-अधूरे' और 'लहरों के राजहंस' के अतिरिक्त रमेश बक्शी रचित 'देवयानी का कहना है' आदि अन्यान्य नाटक इसी खांचे में आते हैं, जो स्त्री-पुरुष संबंधों के ताने-बाने और राग-द्वेष को लेकर गुंथे गए हैं. 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' हिंदी की इसी नाट्य धारा की अगली कड़ी है. और जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है यह नाटक बहुत हद तक मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' से प्रेरित या प्रभावित जान पड़ता है. सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटक 'सूर्य की अन्तिम किरण से..' में

मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' से नाटक के परिवेश, कथावस्तु और पात्रों के मामले में साम्यता और विषमता का खेल खेला है. लेकिन जहाँ-जहाँ सुरेन्द्र वर्मा अपने आप को मोहन राकेश से अलग कुछ करने की कोशिश करते हैं वह भी दरअसल समान और विपरीत के एक ही लय से बंधा हुआ है. ठीक वैसा ही जैसा मोहन राकेश ने नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में विलोम के श्रीमुख से कालिदास को कहलवाया है कि सभी विपरीत एक दूसरे के बेहद निकट पड़ते हैं, कालिदास! मेरे ऐसा कहने के पीछे कुछ ठोस तर्क हैं, जिनपर आगे विस्तार में चर्चा कर रहा हूँ.

पहला तो यह कि 'सूर्य के अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' और 'लहरों के राजहंस' दोनों ही नाटक एक रात की कहानी कहते हैं. यही नहीं बल्कि दोनों ही नाटक शाम के ढलने से लेकर अगली सुबह तक की दास्तान कहते हैं. एक तरफ विवेचित नाटक में नाटक का नायक 'ओक्काक' बेसब्री से अपनी नायिका 'शीलवती' का इंतज़ार रात भर करता है, वहीँ 'लहरों के राजहंस' नाटक में नायिका 'सुंदरी' नायक 'नंद' का इंतज़ार करने को विवश है. लंबे और अंतहीन प्रतीत होते इंतज़ार की समाप्ति पर जब दोनों लौटते हैं तो न 'शीलवती' वही स्त्री रहती है न 'नंद' वही पुरुष रह गया होता है. दोनों ही पात्र अपने पूर्व रूप से इतना विलग हो चुके होते हैं कि अब उनका वापस अपने पुराने रूप में लौटकर आना कतई संभव नहीं रह जाता. उनके चरित्र का यह विलगाव या कहें बदलाव ही नाटक की थाती है. नाटक के इन मूल चरित्रों की यह यात्रा ही नाटक का उत्स है और उसी से नाटक का मूल मंतव्य उभरकर सामने आता है.

इसके अतिरिक्त दोनों ही नाटकों का परिवेश, काल और स्थान देखें तो वह भी बिल्कुल एक समान हैं. दोनों के नाटकों में राज शयनकक्ष और राज उद्यान नाटक में मुख्य केंद्र के तौर पर उपस्थित हैं जहाँ कि सारे घटनाक्रम घटते हैं. इसके अतिरिक्त दोनों ही नाटकों के पात्र भी लगभग एक समान हैं. दोनों ही नाटकों में राज सत्ता से जुड़े पात्रों को नाटक की कथावस्तु में पिरोया गया है. एक तरफ उनमें राज पुरुष और राज स्त्री मुख्य भूमिका में हैं, वहीँ मंत्री, सभासद और राजसेवक इसके अन्य महत्वपूर्ण पात्र हैं. इसके अतिरिक्त दोनों ही नाटकों में मात्र एक बाहरी पात्र है, 'सूर्य की अंतिम किरण से..' में जहाँ यह पात्र प्रतोष है तो वहीँ 'लहरों के राजहंस' नाटक में यह पात्र 'भीक्षु आनंद' हैं. हाँ, दोनों पात्रों का उद्देश्य भले ही अलग-अलग हो. 'सूर्य की अंतिम किरण से..' नाटक में पात्र प्रतोष जहाँ कामना और लगाव का प्रतीक बनकर उपस्थित होता है वहीँ 'लहरों के राजहंस' नाटक में 'भीक्षु आनंद' विरक्ति और अलगाव का प्रतीक पुरुष बनकर उपस्थित होते हैं.

दोनों ही नाटकों की पृष्ठभूमि देखें तो हमें उनमें भी समानता देखने में आती है. विवेच्य नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से..' में जहाँ रानी 'शीलवती' के 'धर्मनटी' बनकर दरबार-ए-खास से दरबार-ए-आम में

निकलने की बात है वहीँ नाटक 'लहरों के राजहंस' में रानी सुंदरी द्वारा 'कामोत्सव' का आयोजन करवाया जा रहा है. कथा की परिस्थिति को भी थोड़ा उलट भर दिया गया है. एक तरफ 'सूर्य की अंतिम किरण से..' नाटक में राजा 'ओक्काक' का रानी 'शीलवती' का धर्मनटी बनकर निकलना पसंद नहीं है, वहीँ 'लहरों के राजहंस' नाटक में रानी 'सुंदरी' का राजकुमार 'नंद' का बौद्ध भिक्षु बनकर निकल जाना. बल्कि ये दोनों के ही पात्र पूरे नाटक में इसी अवश्यंभावी परिघटना के न घटने की कामना से भरे होते हैं और पूरे नाटक में आत्मपीड़ित से दीखते हैं. नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से..' में धर्मनटी के आयोजन में जहाँ भारी भीड़ है वहीँ 'लहरों के राजहंस' नाटक में सुंदरी द्वारा आयोजित कामोत्सव में कोई नहीं आना चाहता.

मोहन राकेश के नाटक 'लहरों के राजहंस' की कथावस्तु और नायिका का चरित्र जहाँ जाकर विराम पाता है, सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटक नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से..' में उसी कथावस्तु की उत्तर कथा कहते प्रतीत होते हैं. विवेच्य नाटक नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से..' की नायिका 'शीलवती' 'लहरों के राजहंस' नाटक की नायिका 'सुंदरी' का ही एक उत्तर पक्ष प्रस्तुत करती जान पड़ती है. दोनों ही चरित्रों के मूल में कामना और शारीरिक उद्दाम की लालसा है. 'सुंदरी' जहाँ उसे खो देने की कल्पना मात्र से पीड़ित है और उसे अंत में खो भी देती है, तो वहीँ 'शीलवती' अपनी कामना और लालसा खो चुकी है पर 'धर्मनटी' का आयोजन उसे एक बार फिर उसकी कामना और उद्दाम लालसा से परिचय करवा देती है. यही कारण है कि बेहद ही अनिच्छा से 'धर्मनटी' के आयोजन शामिल 'शीलवती' जब अलसुबह के वक़्त लौटती है तब वह प्रेमी प्रतोष से तृप्त होने के बाद वही नहीं रह जाती, जिस रूप में वह गयी थी.

दोनों ही नाटकों में कामना, लालसा और श्रृंगार के बीच झूलते किरदार हैं. श्रृंगार दोनों ही नाटकों में अपने आप में न सिर्फ कथावस्तु का अहम् हिस्सा है बल्कि वह अपने आप में नाटक में एक अर्थवता भी संप्रेषित करता है. अगर हम नाटक के पहले अंक के आरंभिक दृश्यों और संवादों को देखें तो इनमें 'लहरों के राजहंस' नाटक में श्रृंगार की चर्चा की स्पष्ट झलक मिलती है:

प्रतिहारी – महत्तरिका! यहाँ क्यों चली आयी हो?

महत्तरिका – (गहरी सांस लेकर) मुझसे सहन नहीं हो रहा है वह श्रृंगार ... इसलिए.

प्रतिहारी – कपोलों पर विशेषक कौन बनाएगा?... तुम्हारे जैसा सधा हाथ तो किसी का नहीं.

महत्तरिका – तू बना दे.

(विराम)

प्रतिहारी – क्या बनाना है? कमल या शंख? .. अभी महादेवी से पूछा, लेकिन उत्तर ही नहीं मिला. वे तो जैसे बिल्कुल जड़ हो गयी हैं. ..न उन तक कोई बात पहुंचती है, न उन पर कोई प्रतिक्रिया होती है.

महत्तरिका – कुछ भी बना दे. .. क्या अंतर पड़ता है.

इस तरह देखें तो 'सुंदरी' और 'शीलवती' का श्रृंगार दोनों ही नाटकों में छाया रहता है और यह नाटक में नए अर्थ भी खोलता है. क्यूंकि रानी का श्रृंगार को उत्सुक न होना उसके मानसिक अवस्था को दर्शाता है, जिससे यह पता चलता है कि कथावस्तु में कहीं न कहीं कोई तनाव की वजह है. इस तरह लेखक नाटक के आरम्भ में ही नाटकीय तनाव का बीज डाल देता है.

दोनों ही नाटकों की नायिका बेहद ही सुन्दर और देहयष्टि में सुघड़ हैं. उनके रूप और सौन्दर्य की चर्चा तो खैर हर तरफ छायी है ही. लेकिन दोनों ही अंततः अपने-अपने पतियों की अनिक्षा का शिकार होती हैं. एक ओर 'सुंदरी' है जो अपने पति 'नंद' से बेहद प्यार करती है और उसे अपने पति के स्नेह और अनुराग पर बेहद भरोसा भी है. उसे लगता है कि उसका रूप और यौवन 'नंद' को 'बुद्ध' की नियति को प्राप्त होने से रोक देगा तभी तो वह सगर्व अलका से कहती है:

'बात बहुत साधारण-सी है अलका! नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है.'

लेकिन वह लाख प्रयास और प्रयत्न के बावजूद 'नंद' को बौद्ध भिक्षु बनने की नियति से रोक नहीं पाती. जिससे उसका विश्वास पूरी तरह टूट जाता है और इस घोर प्रताड़ना से वह चाहकर भी बच नहीं पाती.

वहीँ दूसरी तरफ 'शीलवती' का अपने पति 'ओक्काक' के साथ शारीरिक सम्बन्ध ठीक नहीं हैं कारण कि 'ओक्काक' नारी शरीर के प्रति वह आकर्षण महसूस नहीं करता जो उनके बीच शारीरिक सम्बन्ध में दूरी की वजह बनते हैं. 'शीलवती' ने इसी रूप में इस सम्बन्ध को स्वीकार भी कर लिया है. लेकिन दरबारी सभासदों

का कहना है कि राज्य को किसी भी तरह वारिस मिलना चाहिए वर्ना पडोसी राज्यों से राज्य को खतरा उपस्थित है. ऐसे में दरबारियों से दबाव में ही रानी को एक रात के लिए 'धर्मनटी' बनकर अपनी इच्छा से किसी पुरुष से सम्भोग के जरिए पुत्र प्राप्ति की कोशिश करनी है जिसके लिए हजारों-हज़ार पुरुष आयोजन स्थल पर उपस्थित हैं. न तो राजा ओक्काक' और न ही रानी 'शीलवती' इस आयोजन के पक्ष में हैं लेकिन राज्य रुपी मशीन के एक पुर्जे होने के नाते रानी को यह अग्निपरीक्षा देनी ही है. 'शीलवती' यह परीक्षा देती है लेकिन इस प्रयास में अपने पूर्व प्रेमी का साथ पाकर उसकी कामना और उद्दाम लालसा बाढ़ की नदी की तरह सारे सेतुबंध तोड़ फेंकती है. उसके बाद वह राजा 'ओक्काक' और सभासदों पर कुछ उसी रूप में फुंफकारती है जैसे 'लहरों के राजहंस' नाटक में 'सुंदरी' सभासद मैत्रेय से बौखलाकर कहती है:

'कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय! मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूँ...क्यों? मेरी कामना मेरे अंतर की है. मेरे अंतर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है...'

कुछ इसी तर्ज पर 'शीलवती' की कामना का भी विस्फोट होता है और 'धर्मनटी' के आयोजन से लौटकर जैसे वह अपने स्त्रीत्व को पा लेती है और फिर से प्राप्त स्त्रीत्व को किसी भी कीमत पर खोने को तैयार नहीं है. इसलिए वह आते ही अगले 'धर्मनटी' के आयोजन की घोषणा कर देती है.

नाटक के पात्रों के नामों को भी देखें तो वह एक तरह से टिपण्णी करती प्रतीत होती हैं. विवेच्य नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से..' में मुख्य नायिका का नाम 'शीलवती' है, जिसका अर्थ होता है अपनी 'शील' को संभालकर रखने वाली लेकिन नाटक के अंत में नाटक की नायिका ठीक इसी के विपरीत कार्य करती है और इसे लेकर उसके मन में कोई पश्चाताप भी नहीं है, क्यूंकि स्त्रीत्व 'शील' को बचाने में नहीं बल्कि उसके मनपसंद इस्तेमाल में है. इस तरह देखें तो प्रस्तुत नाटक स्त्री स्वतंत्रता की नयी मिसाल कायम करता है और स्त्री शरीर पर स्त्री के नियंत्रण और मनचाहे इस्तेमाल की मिसाल पेश करता है. गौरतलब बात है कि सुरेन्द्र वर्मा यह आज से पचास साल पहले कर रहे हैं जब इस तरह की मिसालें जीवन तो क्या साहित्य में भी बहुत कम दिखलाई पड़ती थीं. यहाँ पर थोड़ा ध्यान से देखें तो 'शीलवती' में हमें मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' की सावित्री की झलक दिखलाई पड़ती है.

जैसा कि हम जानते हैं कि सुरेन्द्र वर्मा पर मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' नाटक का भी जबरदस्त प्रभाव रहा है और उनका पहला नाटक 'द्रौपदी' के ऊपर इसका प्रभाव बहुत आसानी से लक्षित किया जा सकता है. इसलिए 'सूर्य की अंतिम किरण से...' नाटक में 'द्रौपदी' नाटक से उपजी कथा का तत्व भी समाहित हो गया है, ठीक वैसे ही जैसे अमर बेल के लत्तर आस-पास के वृक्षों को भी अपनी चपेट में ले लेते

हैं. लेकिन सुरेन्द्र वर्मा बहुत ही विश्वसनीय तरीके से उसे कथा तत्व में पिरोते हैं और उसके माध्यम से स्त्री स्वतान्त्र्य चेतना को ठीक उसी प्रकार उजागर करने का प्रयास करते हैं, जैसा कि मोहन राकेश ने अपने नाटकों के माध्यम से किया था. यह वही तत्व है जिसे विचार के रूप में फ्रेडरिक एंगल्स ने अपनी रचना 'परिवार की उत्पत्ति, निजी सम्पति और परिवार' पुस्तक के जरिए लोगों के सामने लाने का काम किया था, जो हमें यह बतलाता है कि मनुष्यों को सच्चे प्यार की अनुभूति तभी हो पाएगी जब स्त्री स्वतंत्र हो जाएगी.

बहरहाल, इस तरह देखें तो हम पाते हैं कि सुरेन्द्र वर्मा के आरंभिक नाटकों पर मोहन राकेश के नाटकों की छाया हर तरफ से विद्यमान दिखती है. जैसा कि मैंने ऊपर रेखांकित किया है, यह कोई बुरी बात भी नहीं है क्यूंकि हम सबके ऊपर कहीं न कहीं किसी न किसी लेखक या रचना का प्रभाव होता ही है और उससे निकलने में वक़्त भी लगता है. हिंदी नाट्य लेखन में वह दौर मोहन राकेश के दौर के तौर पर जाना जाता है जब वह एक से बढ़कर एक महान नाटकों की रचना कर रहे थे. ऐसे में उनके प्रभाव से अछूता रहना संभव ही नहीं था. लेकिन इसका एक दुष्प्रभाव यह देखने में आया कि सुरेन्द्र वर्मा के आरंभिक नाटक अपनी तमाम संभावनाओं के बावजूद अपनी भाषा, शिल्प और कथावस्तु में मोहन राकेश के नाटकों की प्रतिछाया जान पड़ते हैं. बाद में दौर में उनके नाटकों के कम होते जा रहे मंचन के पीछे एक वजह यह भी निश्चित तौर पर है क्यूंकि जब मूल नाटक उपलब्ध हों तो उसकी प्रतिछाया की तरफ आदमी क्यों तबज्जो दे.

Citation: प्रभाकर, मृत्युंजय (2026). भाषा से धनी और भाषा से संतप्त: 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', HindiTech: A Blind Double Peer Reviewed Bilingual Web-Research Journal, 17 (1), 10-21. URL: https://hinditech.in/bhasha-se-dhani-aur-bhasha-se-santapt-surya-ki-antim-kiran-se-surya-ki-pahli-kiran-tak/